उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर की शिक्षण शैली और ध्रुपद के वर्तमान प्रश्न

आशीष सांकृत्यायन

उस्ताद जिया फ़रीदुद्दीन डागर, जिनका ०८ मई को मुम्बई में निधन हुआ, ध्रुपद के इतिहास में एक क्रान्तिकारी पुरूष के रूप में पहचाने जायेंगे क्योंकि उन्होंने ध्रुपद के प्रशिक्षण में कुछ मौलिक परिवर्तन लाकर उसके लिए एक नया मापदण्ड कायम किया। डागर साहब परम्परा से आये थे और परम्परा को पूरी तरह से समझते थे लेकिन नयी परिस्थिति के अनुसार परम्परा के ही हित में उसके नियमों को बदलने का साहस भी रखते थे। हर क्रान्ति में पुरानी व्यवस्था को बदलकर एक नयी व्यवस्था को स्थापित किया जाता है और एक क्रान्तिकारी परिवर्तन से अनेक फ़ायदे हो सकते हैं तो कुछ नुक़सान भी।

१९८१ में जब मध्यप्रदेश के तत्कालिक संस्कृति सचिव श्री अशोक वाजपेयी और फ़िल्म निर्देशक श्री मणि कौल के प्रयासों के फलस्वरूप भोपाल में ध्रुपद केन्द्र की स्थापना हुई और डागर साहब ने यूरोप से लौटकर गुरू का कार्यभार सम्भाला, ध्रुपद विलुप्ति के पथ पर था और एक बड़ा प्रश्न यह था कि ध्रुपद के योग्य आधारवाहक भविष्य में तैयार हो पाएंगे या नहीं। १९६० के दशक में बड़े डागर बन्धुओं द्वारा पश्चिमी देशों में ध्रुपद के प्रथम प्रदर्शन के बाद से वहाँ इस प्राचीन गायन शैली के विषय में कौतूहल बढ़ रहा था और इसी कारण डागर साहब और उनके अन्य भाई अपना ज़्यादा समय यूरोप और अमेरिका में गुज़ारने लगे थे। परन्तु भारत में ध्रुपद के प्रति सर्वत्र उदासीनता थी और उस्ताद और उनके भाइयों जैसे ख्याति प्राप्त गायकों के लिए भी भारत में ध्रुपद से जीविका उपार्जन करना मुश्किल था। आज़ादी के बाद के दौर में पारम्परिक कलाएँ लगभग पूरी तरह से शासन के पोषण पर निर्भर थी एवं सद्य

स्थापित ध्रुपद केन्द्र के गुरू के पद पर नियुक्ति, डागर साहब के लिए एक अवसर था ध्रुपद के संकटग्रस्त भविष्य को लेकर कुछ करने का और भारत के एक बड़े राज्य में कला और संस्कृति के शासकीय पोषण प्रणाली में प्रवेश पाने का क्योंकि ध्रुपद उन दिनों इस पूरी प्रणाली से ही लगभग अनुपस्थित था।

यह अवसर के साथ-साथ भारी चुनौती भी थी, क्योंकि डागर साहब को एक असम्भवप्राय बात हासिल करनी थी : ४ वर्षों में कलाकारों को तैयार करके उन्हें मंच पर प्रस्तुत करना। डागर परम्परा में विस्तृत और सुनियोजित तालीम का सिलसिला विद्यार्थी के ५ साल की उम्र से शुरू होता था। शुरू में बरसों तक कुछ आकार और सरगम के तकनीकी अभ्यास रटाये जाते थे। विद्यार्थी को रोज़ के एक नियम में बाँध दिया जाता था और हर छोटे से अभ्यास को उसे घण्टों तक एक तजबी के सहारे गिनती रखकर, हजारों बार दोहराना पड़ता था। इन अभ्यासों में शैली के अलग-अलग तकनीकी और व्याकरणिक पहलू निबद्ध होते थे। गुरू निरन्तर छात्र को सुनता था और दिये गये अभ्यास की हर बारीकी का बड़ी सख्ती के साथ संशोधन करता था। बरसों की इस कठोर तालीम से छात्र को इस तरह से तैयार किया जाता था कि शैली के सारे बारीक से बारीक तकनीकी और व्याकरणिक पहलू उसके रग-रग में बैठ जाये और वह आदतन इन चीज़ों को सही ढंग से बरतने लगे। कई सालों की इस तालीम से एक बुनियाद तैयार करने के बाद आलाप और बंदिशों की ओर धीरे-धीरे जब बच्चे की समझ बढ़ने लगे तब शास्त्र की तालीम शुरू होती थी, जिसके तहत उन सारी अवधारणाओं और उन पर आधारित नियमों को समझाया जाता था जिस पर पूरी शैली टिकी है। डागर परम्परा में शास्त्र की शिक्षा भी किताबी न होकर प्रत्यक्ष अमल के माध्यम से दी जाती थी। उस्ताद फ़हीमुद्दीन डागर के शब्दों में 'वे ज़िन्दा किताबें लिखते थे'। लगभग २० या २५ साल की इस तालीम के बाद हर तरह से परिपूर्ण गायक तैयार होता था जो न केवल एक कुशल और शैली के हर पहलू से वाकिफ़ कलाकार होता था, इस लम्बे समय तक साधना में लीन होने से उसमें शैली को जीवन धर्म के रूप में पालन करने की आदत पड़ जाती थी।

ध्रुपद केन्द्र में उस्ताद को सीमित काल में कलाकारों को तैयार करना था और उनके सामने विद्यार्थी के रूप में छोटे बच्चे नहीं बल्कि २०-२२ साल के नवयुवक थे, जो पहले कुछ संगीत सीख चुके थे भले वह ध्रुपद न रहा हो। इसी को ध्यान में रखकर उस्ताद ने एक शिक्षा पद्धति का विकास किया जिसमें कुछ महीनों तक एक संक्षिप्त सरगम की तालीम के बाद वे तुरन्त आलाप और बंदिशों की तालीम शुरू कर देते थे। इसमें कुछ आलाप के फ़िकरे सुनाने और सिखाने के बाद वे विद्यार्थी को स्वयं आलाप करने के लिए कहते थे। बंदिशों को भी साथ ही साथ सिखाया जाता था ताकि उनसे राग और अलंकारों के प्रयोग की जानकारी और आलापन के लिए सामग्री मिले। कुछ दिनों की कोशिश के बाद जब बिद्यार्थी अपने तरीके से कुछ आलाप के वाक्य बनाने में सक्षम होते थे, उस्ताद उन्हीं के बनाये हुए आलाप के अशुद्ध वाक्यों को संशोधित करके उन्हें शैली के व्याकरण और नियमों के अनुसार साँचे में ढाल कर सही रूप देते थे, और फिर बीच-बीच में कुछ आलाप के नये वाक्य सिखाकर उन्हें अपने आलाप को और समृद्ध करने के लिए नयी सामग्री देते थे। इस तरह से विद्यार्थी के कच्चे आलाप को निरन्तर सुनकर उसको धीरे-धीरे परिवर्तित करके ठोस रूप देने में गुरु को बहुत परिश्रम और त्याग करना पड़ता था क्योंकि उन्हें अपने रियाज़ और चिन्तन को छोड़कर, शिष्य के आलाप को सुधारने के बारे में काफ़ी सोचना पड़ता था। उस्ताद बंदिशें और उनमें उपज को भी इसी अनोखी पद्धति से सिखाते थे। इस तालीम के परिणामस्वरूप विद्यार्थी बहुत जल्द ही, शैली के व्याकरणिक [redacted]

सिद्धान्तों का मोटे तौर पर पालन करके, सृजनात्मक आलाप और उपज करने की क्षमता पा लेता था। इस प्रशिक्षण पद्धति से आत्मविश्वास के साथ मंच पर गाने के क़ाबिल उस्ताद के अनेक शिष्य तैयार हुए। यह उस्ताद के दूरदर्शिता, परिश्रम, त्याग और नयी परिस्थिति के अनुसार नियमों को बदलने के साहस के नतीजा है कि आज डागर शैली के पर्याप्त युवा गायक हमारे सामने मौजूद हैं। दरभंगा के मल्लिक घराने के भी कई युवा ध्रुपद गायक तैयार हुए हैं और आज कम से कम इन दो ध्रुपद शैलियों के विलुप्ति की कोई आशंका नहीं है। उस्ताद के बड़े भाई रुद्रवीणा वादक उस्ताद ज़िया मोहिउद्दीन डागर भी संक्षिप्त सरगम की तालीम के बाद आलाप और बंदिशों की तालीम देते थे लेकिन वे पहले आलाप का एक पूर्वरचित नमूना सिखाकर उसे कुछ सालों तक निरन्तर संशोधन के साथ रटवाते थे और उसके बाद शिष्य को उसके आधार पर स्वयं आलाप करने के लिए कहते थे। उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर की नयी शिक्षा पद्धति पर उनके बड़े भाई का भी प्रभाव रहा है।

उस्ताद के द्वारा विकसित नयी शिक्षा पद्धति के परिणामों के कुछ और भी पहलू हैं जिनके बारे में वे खुद काफ़ी चिन्ता करते थे और इस विषय में मेरी उनसे और उनके बड़े चचेरे भाई उस्ताद रहीम फ़हीमुद्दीन डागर से कई बार चर्चाएँ भी हुई थीं। इनको समझने के लिए मैं उनके पारम्परिक घराना पद्धति में प्रशिक्षण के बारे में कुछ कहूँगा।

उत्तर भारत में राज दरबारों के संरक्षण में कलाओं में घराना पद्धति का उद्भव हुआ जिसके अन्तर्गत कुछ शैलियाँ कुछ विशिष्ठ परिवारों के साथ जुड़ गयी और इन परिवारों का खानदानी पेशा बन गयीं। इसका कारण यह भी रहा होगा कि उत्तर भारत में शास्त्रीय कलाएँ पिछली लगभग ५-६ सदियों में मन्दिरों और जनजीवन से अलग होकर केवल राजा महाराज और सामन्त वर्ग के पोषण में ही पलते और विकसित होते रहे हैं। दक्षिण भारत में कलाओं का आम लोगों में व्यापक प्रसार और जनजीवन का एक हिस्सा होने के कारण, वहाँ घराना पद्धति का विकास नहीं हुआ। ध्रुपद के कई घराने थे जिनमें से कुछ अब भी अस्तित्व में हैं। आज हम डागर ध्रुपद परम्परा के रूप में जिसे जानते हैं, वह १८वीं सदी के ध्रुपद गायक गोपाल दास और उनके पुत्र बेहराम खान तथा हैदर ख़ान के वंशजों द्वारा संरक्षित एवं विकसित ध्रुपद शैली है। इस शैली के विकास में बड़ी भूमिका बेहराम ख़ान की रही है, जो षट्शास्त्री थे और उन्होंने बनारस में कालिदास नामक पण्डित और गायक से भी शिक्षा ली थी। बेहराम ख़ान द्वारा विकसित डागर शैली का ध्रुपद के प्रति एक बहुत विद्यात्मक दृष्टिकोण रहा है जिसके तहत विस्तृत शास्त्र सिद्धान्तों और अवधारणाओं का विशाल एवं परिपूर्ण ढाँचा ही इसकी बुनियाद और पहचान है क्योंकि यह परम्परा इस परिवार से कई सदियों तक जुड़ी रही इसीलिए इस परिवार ने २०वीं सदी के बीच से शैली के नाम को ही अपने पारिवारिक नाम के रूप में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया।

डागर परम्परा में पारम्परिक प्रशिक्षण पद्धति में घर के सारे शिक्षारत विद्यार्थी घर के सारे बुजुर्गों के पास संयुक्त रूप से तालीम लेते थे। इससे शैली के सिद्धान्तों के अमल में अलग-अलग गायकों के दृष्टिकोण को समझने और सीखने का उन्हें अवसर मिलता था और गायन में वैचित्र्य और विविधता उत्पन्न होती थी। सारे बुजुर्गों द्वारा संयुक्त रूप में प्रशिक्षण देने से शैली के मूलभूत सिद्धान्तों में घराने के सारे गायकों में समानता भी बनी रहती थी, क्योंकि शैली की पहचान उसके मूलभूत सिद्धान्तों से ही बनती है। किसी बुजुर्ग के अकस्मात् निधन से उसकी सन्तानों की तालीम में

कोई रुकावट पैदा नहीं होती थी। १९३६ में उस्ताद नसीरूद्दीन ख़ान के देहान्त के बाद संयुक्त रूप से तालीम देने की यह परम्परा टूटने लगी और परिवार में कई व्यक्तिगत अनबन के कारण और कम उम्र में ही उनके पिता के निधन के कारण परिवार के कुछ शिक्षारत सदस्यों को २०-२५ साल की लम्बी परम्परागत तालीम पूर्ण रूप से नहीं मिल पायी। तालीम के सिलसिले के अस्तव्यस्त होने का एक और कारण यह भी था कि १९४७ के बाद अचानक राजा महाराजाओं का संरक्षण समाप्त हो गया, जिस संरक्षण का ख़ास और महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वह आजीवन था, पूरी तरह गुणवत्ता पर आधारित था और उसे पाने के लिए कलाकार को खुद का प्रचार, विज्ञापन करना या अन्य जुगाड़ों में निरन्तर लगे रहना नहीं पड़ता था, क्योंकि पोषक स्वयं कला के बारे में रूचि और ज्ञान रखते थे। राज दरबारों की समाप्ति पर पहले जैसी बेफिक्री से संगीत साधना करना और तालीम देना सम्भवन नहीं रहा। इन्हीं कारणों से डागर परम्परा में वह आखिरी दौर की शिक्षा जिसमें शास्त्रों और मौलिक अवधारणाओं को समझाया जाता था, उस्ताद की पीढ़ी के [redacted] कुछ बड़े भाइयों को ही मिल पायी और समान रूप से सबके पास नहीं पहुँची।

तालीम के क्रम में विघटन के बावजूद परिवार के जिन सदस्यों को शुरूआत की बुनियादी तकनीकों और अर्कानों की तालीम अच्छी तरह से मिली, वे बाद में खुद अपनी सोच और समझ से और कुछ सीखकर और सुनकर घराने की संगीत सामग्री को आत्मसात करके अपनी कला का विकास कर पाये और क्योंकि शुरूआत में उनके बुजुर्गों द्वारा अच्छी बुनियाद रखी गयी थी और तकनीकों की अच्छी आदत डाली गयी थी, वे जो भी बात अपने गायन या वादन में दर्शाते थे, वे सारे शैली के कलात्मक और व्याकरणिक सिद्धान्तों के अनुसार होते थे, भले वे इन सिद्धान्तों और अवधारणाओं का उस पूर्ण तरह से विश्लेषण नहीं कर पाते थे जैसा कि उनसे ज्यादा तालीम प्राप्त उनके अन्य भाई करते थे। इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि अगर तालीम की पद्धति को परिवर्तित करके शुरूआत की तकनीकी तालीम को संक्षिप्त करके, जल्द ही आलाप, बंदिश और उपज सिखाये जाये तो उसूलों और उन पर आधारित तकनीकों की उस तरह से आदत नहीं पड़ पायेगी जैसी कि पारम्परिक शिक्षा में बरसों तक तकनीकी अभ्यासों को रटाने से होती है। इससे भले ही विद्यार्थी मंच पर बहुत जल्द ही आत्मविश्वास और कुशलता से प्रदर्शन कर पाये परन्तु तकनीकी और उसूली दृष्टि से उसमें शिथिलता रह जाएगी। आज जब कलाकारों को उस तरह का आजीवन पोषण उपलब्ध नहीं है जैसा राजा महाराजों के दरबार में था और ५-६ साल की उम्र से ही गहन प्रशिक्षण शुरू करना भी सम्भव नहीं है तथा सीमित काल के प्रशिक्षण के बाद विद्यार्थी को अपनी कला के माध्यम से रोज़गार भी करना पड़ता है, इस पुराने ढंग से तालीम देना आमतौर पर सम्भव नहीं है।

मुझे ध्रुपद केन्द्र में उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर से उनके द्वारा विकसित आलाप, उपज और सृजन को प्रधानता देने वाली पद्धति से सीखने के बाद, उनके बड़े चचेरे भाई उस्ताद रहीम फ़हीमुद्दीन डागर के पास कुछ वर्षों तक परम्परागत ढंग से सरगम और तकनीकों की तालीम और आखिरी दौर के शास्त्र, सिद्धान्तों और अवधारणाओं की तालीम मिली जिससे मेरे गायन का और विकास हुआ और सिद्धान्तों को समझने और तालीम के द्वारा आत्मसात करने से उसमें और बहुत सम्भावनाएँ उत्पन्न हुईं। मैंने बचपन में कुछ वर्षों तक सितार सीखा था और गणित में स्नातकोत्तर उपाधि पाने के बाद लगभग २४ साल की उम्र में ध्रुपद सीखना शुरू किया था। यदि मुझे उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर की नयी पद्धति से सृजनात्मक और उपजात्मक तालीम नहीं मिलती तो शायद आज मेरे लिए मंच

पर आत्मविश्वास के साथ गाना सम्भव न होता। आज जब हम वयस्क नवयुवकों को सिखा रहे हैं जो पहले कुछ संगीत सीख चुके हैं, मेरे मतानुसार हमें सारे नये और पुराने प्रशिक्षण के उपायों का संयुक्त रूप में एकसाथ प्रयोग करना चाहिए। ध्रुपद केन्द्र में अब नयी और पुरानी परम्परागत शिक्षा पद्धति को मिश्रित रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है और शास्त्रों की और अवधारणाओं की जानकारी भी शुरू से ही अमल के साथ दी जा रही है। लगभग डेढ़ साल के इस तरह के प्रशिक्षण के बाद नतीजा अच्छा होगा, ऐसा प्रतीत हो रहा है। स्थापना के ३२ साल बाद आज भी, ध्रुपद केन्द्र में हर दिन प्रातः ४ बजे अभ्यास और प्रशिक्षण आरम्भ होता है लेकिन ध्रुपद में गहन प्रशिक्षण देकर कार्यक्रम करने और शिक्षा देने के योग्य प्रतिनिधियों को तैयार करने के साथ-साथ यह प्रश्न भी उठता है कि शिक्षा के बाद ध्रुपद से वे जीविका कैसे कमाएँगे।

किसी भी शैली पर उसके पोषण प्रणाली का भी गहरा असर पड़ता है। ध्रुपद के वर्तमान काल तक अस्तित्व में रहना ही पुरानी राज संरक्षण प्रथा का करिश्मा है जिसके तहत देश के कुछ राजदरबारों में उन राजघरानों की निजी रुचि के कारण इस गायन शैली को लगातार संरक्षण मिलता रहा, जबकि अन्य हर जगह पर ध्रुपद के बाद उत्पन्न नयी और मनोरंजनात्मक शैलियों ने पूरी तरह से ध्रुपद का स्थान ले लिया था। ध्रुपद जैसा ध्यानात्मक गायन शैली के लिए ऐसा पोषण अनुकूल है, जिसमें यह पहचाना जाये कि मूलभूत रूप से ध्रुपद एक आध्यात्मिक मार्ग है और कलाकार को जीविका कमाने में खुद का विज्ञापन करना, लोगों को रिझाना और उनका मनोरंजन करने का प्रयास करना कार्यक्रम पाने के लिए निरन्तर जुगाड़ों में लगे रहना न पड़े।

आज़ादी के बाद के दौर में कलाओं में गहरी रूचि रखने वाले राजा महाराजाओं का संरक्षण ख़त्म हुआ और शास्त्रीय कलाओं का पोषण नयी शासन प्रणाली के हाथों चला गया। नयी और पुरानी प्रणाली में बहुत बड़ा अन्तर यह था कि नयी परिस्थिति में कलाओं के पोषण की बागडोर शासकीय अधिकारियों के हाथों में थी जो कुछ अपवादों को छोड़कर आमतौर पर संस्कृति और कलाओं में राजा महाराजाओं की तरह रूचि और ज्ञान नहीं रखते थे। कलाओं के संरक्षण में शासन की भूमिका भारत में आज इतनी बड़ी है कि निजी संस्थाएँ भी बहुत जल्द ही किसी न किसी तरह से शासकीय प्रणाली से सम्बद्ध हो जाती है और उसका हिस्सा बन जाती है। स्वतन्त्रता के बाद के दौर में शासकीय पोषण का मुख्य लक्ष्य बड़े पैमाने पर कार्यक्रमों और उत्सवों का आयोजन करना रहा है और स्कूलों में कला और संस्कृति के बारे में शिक्षा देने के कार्य को कोई अहमियत नहीं दी गयी है। शासकीय कार्यक्रम निःशुल्क होते हैं और इसके चलते पश्चिमी देशों की तरह भारत में निजी संस्थाओं के द्वारा बिना अनुदान पाये कार्यक्रमों का आयोजन करना असम्भव है। इसी वजह से भारत के बड़े शहरों में भी विशाल आबादी के बावजूद बहुत कम कार्यक्रमों का आयोजन होता है। दिल्ली, मुम्बई जैसे महानगरों में सांस्कृतिक कार्यक्रमों की संख्या पेरिस, बर्लिन या लन्दन के मुकाबले नहीं के बराबर है। उन देशों में भी शासन संस्कृति और कला के लिए राजस्व से पैसे खर्च करती है लेकिन उसका बड़ा हिस्सा स्कूलों में कला और संस्कृति के बारे में शिक्षा देने में इस्तेमाल होता है जिससे कि लोगों में कलाओं के प्रति रुचि उत्पन्न हो। यह एक प्रमाणित सत्य है कि सृजनात्मक कलाओं को स्कूलों में सिखाने से अन्य विषयों में भी विद्यार्थी अधिक प्रगति करते हैं।

एक और बात है जिस पर ध्यान देना चाहिए है : उन देशों में सीधे शासन द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन बहुत कम या नहीं के बराबर होता है। कार्यक्रमों का आयोजन संस्थाओं द्वारा होता है जिन्हें शासन और अन्य संस्थाओं या कम्पनियों से अनुदान मिलता है। ये संस्थाएँ ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित होती है जो कला और संस्कृति के बारे में पढ़े लिखे और जानकार होते हैं और उनमें गहरी रुचि रखते हैं, लेकिन स्वयं कलाकार नहीं होते हैं और अपने पद को खुद के कार्यक्रमों के आयोजन करने के लिए इस्तेमाल नहीं करते हैं। वहाँ ऐसी सांस्कृतिक संस्थानों के कामकाज में शासन द्वारा हस्तक्षेप नहीं होता है भले ही उन्हें एक बड़ी रकम शासन से अनुदान के रूप में प्राप्त होती हो। विभिन्न स्रोतों से अनुदान पाने पर भी किसी भी कार्यक्रम में निःशुल्क प्रवेश नहीं होता है जिससे कि खर्च किया गया पैसा टिकट की बिक्री से वापस मिले और दुबारा सांस्कृतिक कार्य के लिए उपलब्ध हो। कार्यक्रमों में प्रवेश निःशुल्क न होने से बहुत सी छोटी संस्थाएँ और व्यक्ति भी निजी तौर पर बगैर अनुदान पाये कला और संस्कृति के क्षेत्र में काम कर सकते हैं। कार्यक्रमों का आयोजन सुनियोजित ढंग से और कई महीनों की तैयारी और विज्ञापन के बाद होता है। कार्यक्रमों में श्रोता की मांग से ही विविधता पर ध्यान दिया जाता है क्योंकि टिकट खरीदकर कोई भी कुछ मुट्ठीभर कलाकारों को ही बार-बार सुनना पसन्द नहीं करेगा। गत १२ वर्षों में मैंने पश्चिमी देशों में ५०० से अधिक छोटे-बड़े कार्यक्रम किये हैं लेकिन एक बार भी सिफ़ारिश या किसी प्रकार की साँठ-गाँठ या अन्य कलाकारों के साथ आदान-प्रदान मुझे कहीं नज़र नहीं आया।

क्योंकि हमारे यहाँ आजादी के पहले की तरह कला के पोषक ज़्यादातर कलाओं के पारखी नहीं रहे, कला के लिए शासन के संरक्षण के वितरण में भी गुणवत्ता का कोई मापदण्ड नहीं रहा। कई दशकों तक स्कूलों में कलाओं के बारे में शिक्षा न देने के परिणाम स्वरूप आज कलाओं में रुचि इस कदर घट चुकी है कि शासन के द्वारा आयोजित निःशुल्क कार्यक्रमों में भी लोग नहीं आते हैं। एक कलाकार के लिए इस पोषण प्रणाली में योग्यता और गुणवत्ता के आधार पर प्रवेश पाना भी आसान नहीं है। इस देश में अब जुगाड़, सिफ़ारिश, साँठगाँठ, लेन-देन, आदान-प्रदान के बिना कला की दुनिया में आगे बढ़ना असम्भव प्राय है। इसी के चलते हमें कार्यक्रमों में कुछ मुट्ठीभर गिने चुने चेहरे ही बार-बार नज़र आते हैं और नयी प्रतिभाओं को और पुराने गुणी कलाकारों को भी नहीं के बराबर अवसर प्राप्त होते हैं। बागडोर जिनके हाथ है उन्हें प्रायः विविधता में या नयी प्रतिभाओं को पेश करने में कोई रुचि नहीं होती है। यह सभी परिस्थितियाँ ध्रुपद जैसी उपासनात्मक और ध्यानात्मक कला के लिए घातक हैं।

यदि हम मंच पर बैठकर आकर्षक प्रदर्शन देने के काबिल कलाकारों को तैयार करने का सीमित लक्ष्य अपने सामने रखते हैं तो यह बहुत मुश्किल नहीं है और उन आकर्षक प्रदर्शन करने वाले छात्रों में भी वे ही अपनी कला से रोज़ी कमा पाएँगे जो यहाँ के शासकीय पोषण प्रणाली के 'नियमों और तरीकों' को समझकर उसमें निपुणता से अपने लिए रास्ता बना पाएँगे या विदेशों में अपने आपको प्रतिष्ठित कर पाएँगे। लेकिन ध्रुपद को एक संस्कृति और जीवन धर्म के रूप में जीने के काबिल ध्रुपदियों का तैयार होना और तैयार होने पर भी उनके लिए इस धर्म का पालन करते हुए ध्रुपद के माध्यम से रोज़गार करना, आज की परिस्थिति में मुझे असम्भव-सा प्रतीत होता है।